

## कबीर' के संधा-भाषा की मौलिकता

डॉ. राजेश मिश्र

सहायक प्राध्यापक, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, कोनी, बिलासपुर, छत्तीसगढ़, भारत |

## प्रस्तावना

कबीर का भाषा व्यवहार परंपरा प्रसूत है मौलिक नहीं। रीति काल के कई ऐसे शब्द-सिद्ध कवि थे जो एक या दो शब्दों से पूरा छंद तैयार करते थे। या अनपढ़ होने पर भी श्रेष्ठ आशु-कवि के रूप में लोक प्रचलित थे। गाँवों में आज भी ऐसे अनपढ़ लेकिन अनुभवी बुजुर्ग हैं जो निरर्थक शब्दों के रूढ़ अर्थों में सार्थक प्रयोग करते हुए उच्चारण शैली और ध्वन्यात्मक अवलम्ब से शब्दों को मन चाहा अर्थ-विस्तार देते हैं। अतः कबीर के बारे में द्विवेदी जी के कथन का जो यह सारांश है कि-“अपने शब्दों में अर्थगौरव भरने और भाषाई प्रयोग करने के कारण कबीर वाणी के डिक्टेटर थे, सीधे सीधे या दरेरा देकर वे जैसा चाहे वाक् विधान करते थे, वह परंपरा प्रसूत है उनकी अपनी नहीं। कबीर पूर्व या उनके समकालीन योगियों संतों ने जिस भाषा का विधान अपनी योग और साधना क्षेत्र की गूढ़ता को बनाये-बचाए रखने के लिए पारिभाषिक अर्थों में किया था, कबीर की वाणी उसका शाब्दिक अनुशीलन करती है। ब्रह्म, अनहद, नाद, सहस्रार, कुण्डलिनी, विविध चक्रों, अवस्थाओं तथा ज्ञान की दशाओं की व्यंजना के लिए नाथादि संतों योगियों ने सूत्रार्थक-गूढार्थक शब्द-प्रयोगों का जो आविष्कार अपने लिए किया था, कबीर ने उसी को लोक तक पहुंचाने वाले माध्यम के रूप में उद्घाटित किया है। घुमक्कड़ और सत्संगी चर्याओं के द्वारा कबीर का मानस भक्ति, योग, प्रेम और अध्यात्म के क्षेत्रों से कुछ अच्छे, कम प्रचलित और विशेष तत्वों-बातों को आत्मसात करके, बाकी को छोड़ करके अपने संत व्यक्तित्व को तेवर प्रदान करते थे। सूफी मत के तत्वों, वैरागी संतों के वचनों, नाथ-सिद्धों के साधना मूलक उपदेशों तथा भक्ति के साम्प्रदायिक स्वरूपों के समाहार से कबीर की वाणी का विधान हुआ है।

भाषा के प्रभाव और आकर्षण को साधकर कबीर समाज को कनफटे योगियों के सामान चमत्कृत करते थे। कबीर की मौलिकता वहां दिखाई पड़ती है जहाँ वे साम्प्रदायिक मत वैविध्य और और उनके आडम्बरों के प्रति अपनी खिन्नता प्रकट करते हैं, जहां वे हिन्दू और मुस्लिम दोनों के दिखावे को फटकार लगाते हैं। वे ना तो भक्त थे, न तो साधक थे, न तो समाज सुधारक और ना ही पूरे अर्थों में संत थे - यह बात द्विवेदी जी स्वीकार कर चुके हैं। कबीर इन सभी क्षेत्रों की बातों को आत्मसात किये हुए निडर और कुशल उपदेशक थे। वे जिसे गलत महसूस करते थे उसपर मुक्त हृदय से, शब्दों को उचित शैली

और अर्थ देते हुए वाणी का ऐसा विधान करते थे जो समाज में एक विशेष प्रभाव उत्पन्न कर सके। सरहपा, शबरपा, आदि अनेक संतों-योगियों के कथन ऐसे मिलते हैं जिनका कबीर केवल दुहराव करते हैं, कुछ ऐसा हेर फेर, जो मौलिक जैसा प्रभाव उत्पन्न कर सके। जैसे 'ढोला मारू रा दूहा' का दोहा संख्या 53, पृ. 17 के इस दोहे -

“राति जू सारस कुरलिया गूंजि रहे सब ताल |  
जिणकी जोड़ी बीछुड़ी तिणका कौन हवाल||”को कबीर  
इस तरह कहते हैं-

“अम्बर कुंजा कुरलिया, गरजि भरे सब ताल | जिनि  
पे गोविन्द बीछुटे, तिनके कौन हवाल||”

(कबीर ग्रंथावली, साखी-2 पृष-7)<sup>1</sup>

या सरहपा का यह दोहा जहाँ वे साधकों को उपदेश देते हैं कि-

“जेहि मण पवण ण संचरयि, रवि ससि णाह पवेस |  
तहिं बढ चित्त बिसाम करु, सरहे कहिअ उएस ||”<sup>2</sup>

जिसे कबीर ने अपनाकर बताया कि -

जिहिं वण सीह न संचरे, पंखि उडे नहिं जाई | रैनि दिवस  
का गमि नहीं, तह कबीर रहा ल्यौ लाइ ||”

(कबीर ग्रंथावली ना.प्र.स. काशी,  
साखी -1, पृष-18)<sup>3</sup>

सरहपा शबरपा डोम्भपा गोरखबानी ढोला मारू रा दूहा पाहुणदोहा गुरुग्रंथ साहब आदि कई ऐसे ग्रन्थ हैं जहाँ के उपदेशों से कबीर अपनी वाणी और उसके प्रभाव को ओज ओजपूर्ण स्वर प्रदान करते हैं। कबीर सही अर्थों में मौलिक न होकर अपने समय और समाज के संचित-विग्रह-व्यक्तित्व हैं।

कबीर के व्यक्तित्व की निर्मिति को ठीक से जानने के लिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और परशुराम चतुर्वेदी जी के ग्रंथों में कबीर की वाणी और उनके साहित्य की विशेषताओं से जुड़े ऐसे और भी कई स्थल देखे जा सकते हैं। आचार्य द्विवेदी जी ने लिखा है कि

“कबीरदास ऐसे ही मिलन बिंदु पर खड़े थे जहाँ से एक तरफ हिंदुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है और दूसरी ओर भक्तिमार्ग, जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना-उसी प्रसन्न चौरस्ते पर वे खड़े थे | वे दोनों और देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोष गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे |”

(कबीर: हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ-११४)<sup>4</sup>

इसका मतलब यह नहीं की कबीर को इन सबका ज्ञान नहीं, निकलने वाले ये सारे रास्ते कबीर को अपने अनुभूत सत्य का पक्ष-प्रतिपक्ष समझाकर निकलते हैं | कबीर इन सबके तत्वों को समेटकर चौरास्ते पर खड़े हैं उनसे छूटकर जाने वाले तत्वों में बाह्याडम्बर, अहम्, द्वेष और अंध-भक्ति जैसे तत्व ही थे | इसी कारण कबीर की वाणी इन सभी क्षेत्रों के अनुभूत सत्य का अनुकरण करती है | अपनी राह का यह फकीर हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में सिर्फ ‘आत्मराम’ की बातों को मनाता है: और वह आत्मराम इन सभी रास्तों का उत्साही-शोधक और अन्वेषक है, पूरी तरह निर्लिप्त या उदासीन नहीं है | कबीर के आत्मराम अल्लाह और राम के नाम पर फैले तरह तरह के आडम्बरों को देखकर, मूलतत्व को स्वीकार करते हुए, स्वयं को इन सभी से अलग कर लेते हैं | द्विवेदी जी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि पहली बार कोई संत-भक्त अपने भगवान् को ‘निरपख भगवान्’ के आसन पर बैठाता है | कबीर यह जानते थे कि जप, माला, छपा, तिलक, उपवास, तस्बीह, नमाज, तीर्थाटन, दर्शन आदि तमाम कर्मकांड मन को एकाग्र करने के साधन मात्र हैं भक्ति नहीं | भक्ति के लिए तन्मयता ज़रूरी है | जिसके लिए ये सारे विधान किये जाते हैं लेकिन कबीर का समय भक्ति की विकृत अवस्था का समय था जहाँ भक्ति और धर्म के लिए कर्म काण्ड ही मुख्य हो गया था | ऐसी स्थिति में कबीर कर्मकांड और आडम्बरों को महत्वहीन करके आध्यात्मिक प्रेम (सूफी साधना से प्रभावित) को लोक मानस में प्रतिष्ठा करते हैं | जिसके लिए वातावरण में प्रचलित सभी मान्यताओं का सार अपनी वनियों में उतारकर जन-जन के बीच पहुंचने लगे जो अपनी आत्मा को ठीक नहीं लगा उसकी कमियों को उजागर करते हुए एक दुसरे विकल्प को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जहाँ समाज निश्चिन्त भाव में अपने आराध्य को आत्मसात कर सके | धर्म के विरुद्ध होने की गलती और प्रायश्चित, दंड, भोग, पाप

आदि के भय से अपने समय के समाज के मन को अलग करके, उसे आत्मस्थ अवस्था में लाने का प्रयास करते हैं | इसके लिए वे सूफियों के प्रेम मूला भक्ति को लोक के लिए आसान और प्रीतिकर जानकर उन्हें उपदेशित करते हैं कि-

“पढ़ि-पढ़ि के पत्थर भया लिखी लिखी भया जु ईंट |  
कहैं कबीरा प्रेम की लगी न एकौ छींट ||  
पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय |  
ढाई आखर प्रेम का पढे सो पंडित होय ||”

कबीर: हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ-145)<sup>5</sup>

कबीर का समाज सुधारक रूप भ्रामक और दुविधा युक्त है | हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने साफ़ स्वीकार किया है-

“कबीर को हिन्दू मुस्लिम धर्मों का सर्व धर्म समन्वयकारी सुधारक (जो लोग) मानते हैं वे क्या चाहते हैं, ठीक समझ में नहीं आता | कबीर का रास्ता बहुत साफ़ था | वे दोनों को सिरसा स्वीकार कर समन्वय करने वाले नहीं थे |”

(कबीर: हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ-147)<sup>6</sup>

कबीर के समाजसुधारक रूप का भ्रम संभवतः इसलिए होता है क्योंकि वे ऐसे समय में उपदेश दे रहे थे जब हिन्दू और मुस्लिम दोनों का, संस्कृति धर्म, समाजव्यवस्था और भाषा सभी क्षेत्रों में संघर्ष चल रहा था | दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे को तुच्छ बनाने के लिए शोध कर रहे थे | अतः दोनों को, नाथ-सिद्धों के सामान फटकार लगाने वाला कबीर, समाजसुधारक ही होगा ऐसा भ्रम होना सहज ही है | सूफी संतों के सामान कबीर लोक मानस को प्रेम-मूला ज्ञान देने का प्रयास करते हैं जहाँ आडम्बर और बाह्याचार, जाति, वर्ण, छुआछूत, उंच-नीच आदि तमाम व्यक्ति-व्यक्ति में भेद करने वाली सामाजिक समस्याओं समाधान हो सके | कबीर के ऐसे ‘संग्रही व्यक्तित्व’ को लोक मानस निश्चित ही समाज सुधारक ही समझेगा लेकिन कबीर सिर्फ भाव की साधना को सिखाने के लिए, धर्म और कर्म के आडम्बरों को हटाने के लिए लोक मानस को चेता रहे थे | उनका किसी समाज को सुधारने का संकल्प नहीं था इसीलिए उनके उपदेश ‘साधो’ के लिए था या ‘स्वयं अपने लिए’ या फटकार लगाते समय किसी ‘मुल्ला और पाडे’ के लिए है | वे किसी धर्म या सम्प्रदाय की मूल भावना को चोट नहीं पहुंचाते, ना तो किसी धर्म या सम्प्रदाय के बरकश अपने किसी सम्प्रदाय या धर्म को स्थापित करने की स्पृहा ही उनमें दिखाई पड़ती है | सम्प्रदाय बनाने और उसके लिए मंडन-खंडन करने का द्रविण प्राणायाम करने का संकल्प उनमें नहीं था | इसलिए

कबीर को सूफी संतों से प्रभावित भाव-साधक या संत समझना अधिक ज़रूरी है।

कबीर योगियों, सिद्धों, और नाथ मुनियों के ही सामान एक विशेष आनंदमय लोक 'बेगमपुर' के बारे में बताते हैं, जहाँ साधारण मनुष्य नहीं पहुँच सकता, जहाँ बारहों मास बसंत रहता है, निरंतर अमृत रस की बरसात होती रहती है। कबीर ऐसे ही बेगमपुर में निवास करते हैं। सुन्न-शिखर-गढ़ के उस बेगमपुर का बखान करने और 'प्राप्ति' का रास्ता सुझाने के बीच कबीर का विषयांतर न होना, उद्देश्य को न छोड़ना-हजारी प्रसाद द्विवेदी और उन्हीं के किसी प्रिय "एवेलिन अंडरहिल" को भी अधिक विशेष लगता है क्योंकि अक्सर सामान्य पढ़े लिखे या अनपढ़ भक्त या संत ऐसी अवस्थाओं में रम जाने पर स्वयं की चेतना और अपने अस्तित्व तथा संकल्पादि से ऊपर उठ कर उस एक स्थिति विशेष के आकर्षण में, खुदा के नूर में, ईश्वर के साक्षात्कार में अपने आप को तिरोहित कर देते हैं। कबीर के साथ ऐसा नहीं होता वे निमग्न नहीं होते बल्कि अपनी सत्ता को बनाये रखते हुए अपने उपदेशक भाव तथा समाज के भ्रम को दूर करने के व्रत को भूलते नहीं हैं बल्कि सचेत होकर अपने पूर्व और वर्तमान के संतो, सिद्धों, मुनियों और सूफियों के साधना सार की आत्मस्थ-व्यंजना करते हैं। एक सच्चा-साधक जैसे एक विशेष स्थिति में (उन्मनी में) अपने अस्तित्व को भी भूल जाता है, कबीर स्वयं को नहीं भूल पाते बल्कि स्वयं के साथ-साथ अपने समाज के प्रति भी वे और सचेत से हो जाते हैं तथा भक्ति तथा साधना की कमियों को देखकर अपने संचित-उपदेश का उद्घाटन करते हैं। इसी लिए उन्हें साधक भी कहना ठीक नहीं। वे जब योगियों की संगत में आते या उनका ध्यान आता तब वे स्वयं को सुन्न-शिखर-गढ़ के बेगमपुर का आनंद लेने वाला योगी जैसे बताने में व्यस्त हो जाते। और जब नाथ-सिद्धों की साधना और भाषा का खयाल आता तब चमत्कारिक-पारिभाषिक शब्दों में सिद्ध नाथों के सामान "बरसे कम्बल भीगे पानी" या "मंछी रूखा चढ़ी गयी" और "उनमनी चढ़ा गगन रस पीवै" की अनुभूतियों को महसूस करने-कराने लगते। इसलिए कबीर मौलिक रूप में साधक भी नहीं है अगर वे कुछ हैं तो विशेष क्षेत्रों की विशेष व्याख्या या अनुभूति से प्रभावित, चमत्कृत होकर उसके प्रभाव का बखान करने वाले संत ही हैं। वे जिसकी संगत में बैठते उसकी बातों को अपने अनुसार बताने समझाने लगते। उनकी प्रतिभा या मौलिकता उतनी ही है जहाँ कबीर सबको समझाने सचेत करने या आडम्बर से दूर रखने के लिए विभिन्न मत मतान्तरों या भक्त संतों की बातों स्थितियों को अपने अनुसार उद्घाटित करते थे।

कबीर की आखिन-देखी सही अर्थों में उनका अपना 'समाजबोध' है। रामनन्द की वैष्णव भक्ति, हठयोग, अष्टांगयोग, अद्वैतवाद, सूफी प्रेम साधना, सत्संग, खंडन-मंडन के शास्त्रार्थ और इन सभी के बीच उनका मुसलमान और हिन्दू दोनों धर्मों के लिए अपना और पराया

दोनों बने रहना; कबीर के कबीरत्व को उद्घाटित करता है। कबीर की आखिन देखी में ज्ञान और चेतना के ये सारे तत्व एक साथ उपस्थित हैं जो तत्कालीन पूरे समाज को एक विशेष वातावरण में संवेदित कर रहे थे आडम्बर और छुआछूत, वर्ण-भेद और जाति-भेद, सम्प्रदाय और धर्म जैसे वैविध्यपूर्ण वातावरण; समाज को मथ रहे थे। कबीर की भाषा इसी वातावरण के विक्षोभ से अर्थ-गाम्भीर्य और व्यंजना इकट्ठा करती है, इसी लिए कबीर सबके प्रभाव को स्वीकार करके, सबकी कमियों को उद्घाटित करके उसी की कमी के लिए सबको फटकार लगाने का साहस अपनी भाषा में उतार पाते हैं। चुटकी लेने, व्यंग्योक्ति करने, कमियाँ गिनाने और उनपर तर्क सहित अपना क्षोभ जाहिर करने में बनारसी फक्कड़ आज भी माहिर हैं, लेकिन कबीर का यह फक्कड़ स्वभाव, उनके संत व्यक्तित्व और ज्ञान तथा अनुभूति की उपर्युक्त तमाम सरणियों से इतने व्यवस्थित ढंग से तैयार है कि वे फक्कड़ होकर भी तत्व ज्ञानियों को अकाट्य तर्कों से निःशब्द करने और अपनी तरह से सोचने पर विवश करने के लिए समर्थ हैं। यह फक्कड़ स्वभाव, संघर्ष, अनुभूत ज्ञान को मनाने के लिए प्रेरित करना, पोथियों की उपेक्षा करना, सबको एक सामान मनुष्य समझना और धर्म को आडम्बर से दूर रखने की कवायत का पूरा संघर्ष कबीर के कबीरत्व को ओज देता है लेकिन वे अपनी बात मनवाने के लिए किसी से आग्रह नहीं करते बल्कि लोगों को जीवन की सत्यता को समझने-जानने के लिए स्वतन्त्र करते हैं स्वच्छंद करते हैं। डॉ. शुक्देव सिंह जी के शब्दों में-

**"कबीर के सम्बन्ध में 'चरित-पोथियां' और 'परिचई-पुस्तकें' यह बताती हैं कि उनके पास फटा-चिथड़ा कम्बल, उलटे रखे मिट्टी के घड़े। यानी गरीबी की दौलत अफरात थी। उनकी कविता में एक क्षुभित-वंचित की वह सारी चीख है जो लोगों के कान खड़े करती है, आँखें खोलती हैं और आवृत्ति और स्मृति के लिए जिह्वा को संचालित करती है, कबीर पीड़ा की जीभ पर बैठे हुए वाचक हैं।"**

(भये कबीर कबीर: डॉ.शुक्देव सिंह पृ-87)<sup>7</sup>

कबीर के इस फक्कड़ाना अंदाज़ और उनकी भाषा की व्यंजना क्षमता को उत्तर भारत के कुछ लोक गायकों ने गहरे से महसूस किया। गेय पदों की मार्मिकता को समझा और निर्गुण राम के अलख निरंजन स्वरूप की भावधारा पूरे समाज में प्रवाहित करने लगे। ऐसे गायकों के कंठ से निकले कबीर के गीत मैथिलि मंडित, मंगल, पद, सोहर, झुम्मरि, बसंत लगनी, समदाउनी आदि रूपों में लोक हृदय के भावों को उद्बलित करने लगे। कबीर की अर्जित-भाषा और उनका संचित अनभै-साँच मिलकर, लोक जीवन में 'कबीरा' के रूप

में प्रचलित हो गया | कबीर सिर्फ संतों के संगी और मुल्ला-पंडितों के आडम्बरो के विरोधी ही नहीं रहे बल्कि सही अर्थों में अब जाकर कबीर पूरी तरह से लोक के होते हैं | तमाम संतों की पूरी परंपरा है भारत भर में लेकिन लोक जीवन के उल्लास, विषद-चिंतन, गायन, जीवन और मरण आदि विविध स्थलों तक, तुलसी के बाद कोई दूसरा नहीं पहुंच पाया था | कबीर की कबीरी में मस्त उत्तर भारत के ये गायक दूसरों को भी इसी भाव में मस्त करने लगे | कबीर अब सभी के सगे हो गए | बावजूद इसके कबीर किसी के सगे नहीं हैं | अस्वीकार से ही उनकी प्रकृति तैयार हुई है | समाज को अपने अनुसार चलाने की कोशिश करने वाले मुल्ला-काज़ी, पण्डे-सिद्ध सभी को कबीर ललकार कर, चुप कराकर लोगों के लिए अनुभूत ज्ञान का स्वच्छंद रास्ता खोल दिया | हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में-

**“भारतवर्ष की जलवायु में ही कुछ ऐसा गुण है कि यहाँ के साधक और पंडित समस्त प्रचलित पौराणिक परंपरा को स्वीकार करते हैं अपने विशेष मत की पुष्टि के लिए उससे संगत बैठते हैं और अपने उपास्य देव को सबके सर पर बैठा देते हैं |**

**“कबीर: हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ-65।**

8 कबीर ने भी यही किया सभी धर्मों, सम्प्रदायों, मत, मतान्तरों, योगियों, सिद्धों, वैरागियों आदि की बातों को पचाकर, अपने बात (अनभि साँच) को उससे विशेष बनाकर, अपनी तरफ से उसे सभी के सर पर बैठा दिए | लोक जीवन के कबीर वह कबीर नहीं जो समाज सुधारक हैं या मुल्ला, पंडित, काज़ी, सिद्ध और नाथों के सामने खड़े हैं | बल्कि लोक जीवन के कबीर व्यंग्योक्तियों की व्यंजना, निर्गुनियाँ संतों के रहस्यमयी गान और फक्कड़ स्वभाव वाले होली के ‘कबीरा’ के कबीर हैं | इसके अलग यदि कबीर कुछ और हैं तो उपदेशक मात्र हैं | लोक जीवन अपने नेता को अपनी संवेदना और भावों के साथ उद्वेलित होने की कसौटी पर नाप कर अपने हृदय में स्थान देती है | तब जाकर वह लोक-नेता घर-घर के मंगल गान, सोहर, फाग, और निर्गुनियों में स्थान बना पाता है | कबीर की शैली यहाँ चूक सी जाती है, वे उपदेश कथन, नीति कथन वैराग्य और उल्लास तक तो पहुंचते हैं लेकिन गृहस्ती के सुख-दुःख, संयोग-वियोग, शैशव, किशोर, युवा, प्रौढ़, जीवन-संबंधों, सामाजिक संबंधों और मर्यादा-भाव की सिद्धी में तुलसी से कहीं बहुत पीछे रह जाते हैं | तुलसीदास लोक के जीवन गीतों के साथ खड़े हैं | इसी कारण उनकी रचना आज भी पूरे भारत के घर-घर में पूजी जाती है |

कबीर के भाषा की व्यंजना में कितना नाथ-सिद्धों का है कितना उनका अपना है यह द्विवेदी जी के इस वाक्यांश से स्पष्ट हो जाता है कि- कबीर वहाँ खड़े हैं

**“जहाँ से एक ओर हिंदुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ पर एक ओर योग मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना- उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे।**

**“कबीर: हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ-114।**

कबीर के पास से जो भी कुछ निकला है उसकी पदचाप और उसके चिन्ह कबीर की वाणी में शेष रह जाते हैं, जो चले जाने के संकेतक होकर भी कबीर को लोक का बना जाता है | उसके आने मात्र से कबीर की भाषा में कबीरत्व आ गया | संगत का असर तो होता ही है | लेकिन कबीर के सतर्क कथन चाहे नाथ-सिद्धों, कनफटे योगियों के रहस्यपूर्ण चमत्कारिक पारिभाषिक उक्तियों के असर से तैयार हो या काज़ी-मुल्ला और पाडे जैसे आडम्बरी कर्मकांडों के विरोध-विक्षोभ से, कबीर को संतो का सिरमौर बना दिया | यह असर सिर्फ कबीर में ही क्यों आया पूर्ववर्ती-परवर्ती किसी संत में क्यों नहीं आया ? यह प्रश्न कबीर के मौलिकता की शोधक है | पृथक अस्तित्व की चाहत कबीर को नहीं थी वे सिर्फ लोक मानस को सचेत कर रहे थे | सचेत करने के प्रचलित तरीकों का अपने अनुसार उन्होंने प्रयोग किया और लोकप्रिय भी हुए, यह उनका प्रभाव ही है कि लोक मानस उनके न चाहने पर भी विधिवत उनका मठ बनाया, विधिवत सम्प्रदाय स्थापित किया | परशुराम चतुर्वेदी जी मानते हैं कि उस समय

**“प्रत्येक वर्ग की, चाहे वह धार्मिक हो या सामाजिक, दूसरे से केवल इस बात पर होड़ थी कि उसका पृथक अस्तित्व युक्ति संगत समझा जाना चाहिए | कबीर ऐसे प्रयासों के प्रति असली वैरागी थे | वे अपने को समाज में प्रतिष्ठित करना नहीं चाहते थे | बल्कि सामाजिक लोक-जीवन ने स्वयं उन्हें प्रतिष्ठित किया है |”**

**आचार्य परशुराम चतुर्वेदी: कबीर साहित्य की परख, पृ-111।**

**सन्दर्भ ग्रन्थ**

- 1- कबीर ग्रंथावली, साखी-2 पृष-7।
- 2- कबीर ग्रंथावली, ना.प्र.स.काशी, साखी -1, पृष-18।
- 3- कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ-११४।
- 4- कबीर:हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ-145।
- 5- कबीर: हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ-147।
- 6- भये कबीर कबीर : डॉ.शुकदेव सिंह, पृ-87।
- 7- कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ-65।
- 8- कबीर: हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ-114
- 9- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी :कबीर साहित्य की परख, पृ-111।